विट्‌गेन्स्टाइन : एक अनूठा लेख, एक नया आईना

आलोक टंडन
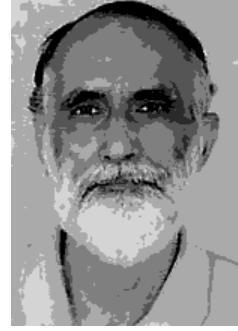
कई बार हम किसी बड़े दार्शनिक के बारे में, उसे स्वयं न पढ़ कर, उसे समझने का दावा करने वालों को पढ़ कर, सुन कर कई भ्रांत धारणाओं के शिकार हो जाते हैं। कुछ ऐसा ही मेरे साथ महान दार्शनिक लुडविग विट्‌गेन्स्टाइन को लेकर हुआ जब मैंने यह मान लिया कि वे राजनीतिक रूप से अनुदारवादी होने के कारण मेरे किसी काम के नहीं हैं। मेरे इस भ्रम को तोड़ने का काम *प्रतिमान-11* में प्रकाशित प्रसन्न कुमार चौधरी के लेख 'कौतुक के पर्वत का सैलानी' ने किया। जिस अनूठे ढंग से उन्होंने विट्‌गेन्स्टाइन के जीवन और विचार को उद्‌घाटित किया वह किसी भी पाठक के कुतूहल को जगाने के लिए पर्याप्त है। अन्यथा अत्यंत दुरूह कृतियों के रचयिता इस असाधारण प्रतिभा के धनी दार्शनिक को दर्शन के अधिकतर छात्र भी दूर से ही सलाम करने में ही अपनी ख़ैर समझते हैं।

बड़ी ही नायाब शैली में लिखे गये उपरोक्त लेख में विट्‌गेन्स्टाइन का जीवन, समय और दर्शन कुछ इस तरह अंतर्गुम्फित है कि उनको अलगाना लेख के सौंदर्य की हत्या करने जैसा होगा। प्रकट रूप में उनके दर्शन के स्रोत के रूप में तार्किक-गणितीय दर्शन की परम्परा से दर्शन के विद्यार्थी परिचित हैं किंतु अप्रकट रूप में दो अन्य स्रोतों, अंतर्धाराओं— संगीत और आद्य अस्तित्ववाद की पहचान कराने में लेखक ने जो सफलता पाई है वह विट्‌गेन्स्टाइन के दर्शन पर शोध करने वालों को नयी दिशा में सोचने के लिए ज़रूर मजबूर करेगी। यह जानकारी कि असाधारण प्रतिभा के धनी एलेन तूरिंग जिन्हें आज सैद्धांतिक कम्प्यूटर विज्ञान तथा 'कृत्रिम बुद्धि' का जनक माना जाता है और जिन पर समलैंगिक होने के कारण 1952 में ब्रिटिश क़ानून के तहत मुक़दमा चलाकर सज़ा सुनाई गयी थी और जिस कारण उन्होंने आत्महत्या कर ली थी, विट्‌गेन्स्टाइन के छात्र रहे थे— हमें विट्‌गेन्स्टाइन के मौलिक अवदान का लोहा मानने के लिए मजबूर कर देती है, क्योंकि आज कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग-भाषा, जिसकी तार्किक-गणितीय रचना में वे लगे थे, के बिना हमारी दिनचर्या ही ठप हो जाएगी।

विट्‌गेन्स्टाइन की अनुदार छवि के पक्ष में भी उदाहरण बहुत सारे हैं (नारी अधिकारों का विरोध, किसी भी प्रकार के राजनीतिक कर्म को संशय से देखना, केवल व्यक्तिगत नैतिकता पर ज़ोर आदि)। **किंतु इस बात की पड़ताल तो की ही जानी चाहिए कि उनका व्यक्तिगत जीवन कुछ भी रहा हो और उन्होंने स्वयं कुछ भी सीधे-सीधे न लिखा हो** किंतु उनके सैद्धांतिक दर्शन से सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों को समझने में कितनी मदद मिल सकती है और किस वैचारिकी को समर्थन प्राप्त होता है।

इस लेख से मिली जिस जानकारी ने मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्यचकित किया और जिसने मेरे मन में विट्गेन्स्टाइन की छवि ही बदल दी, वह है उनका मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों से व्यक्तिगत संबंध और संवाद, फिर चाहे वह ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्य मारिस डॉब रहे हों या मार्क्सवादी अर्थशास्त्री पियेरो स्राफा। 1935 में उनकी सोवियत संघ की यात्रा और वहाँ मिला स्वागत-सम्मान, द्वितीय विश्व युद्ध का समर्थन, युद्ध के दौरान उभरे अंधराष्ट्रवादी उभार का विरोध, युद्ध के बाद हुए चुनाव में लेबर पार्टी का समर्थन, निजी सम्पत्ति और निजी भूमि-स्वामित्व का विरोध, शारीरिक श्रम का समर्थन आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जो उनकी एक प्रगतिशील छवि प्रस्तुत करते हैं, भले ही उन्हें एक कम्युनिस्ट न कहा जा सकता हो। लेखक ने उन्हें 'दिल से कम्युनिस्ट' माना है जिस पर मतभेद सम्भव है, लेकिन ताज्जुब की बात यह है कि भारत में विट्गेन्स्टाइन को पढ़ने, पढ़ाने और चर्चा करने वालों के मुख से ये बातें मैंने पहले न कभी पढ़ी, न सुनी। क्या कारण है कि हमारे विद्वान उन्हें निरा भाषा-दार्शनिक ही समझते-समझाते रहे, उनकी 'फ़ार्म ऑफ़ लाइफ़' की अवधारणा को धार्मिक अंधविश्वास के पक्ष में खड़ा करते रहे और अधिक से अधिक उनके दर्शन और अद्वैत वेदांत में समानताएँ ढूँढ़ते रहे। इससे विट्गेन्स्टाइन के सामाजिक-राजनीतिक विचारों के अवगाहन का पक्ष अछूता ही बना रहा। भले ही विट्गेन्स्टाइन ने इन विषयों पर स्वयं अधिक कुछ न लिखा हो किंतु उनके जीवन-वृत्त से लाई गयी अमूल्य सामग्री से हमारा परिचय कराने के लिए प्रसन्न कुमार चौधरी जी साधुवाद के पात्र हैं।

निश्चय ही इस सामग्री के आधार पर किसी अंतिम निर्णय पर पहुँचना तो जल्दबाज़ी होगी, क्योंकि विट्गेन्स्टाइन की अनुदार छवि के पक्ष में भी उदाहरण बहुत सारे हैं (नारी अधिकारों का विरोध, किसी भी प्रकार के राजनीतिक कर्म को संशय से देखना, केवल व्यक्तिगत नैतिकता पर ज़ोर आदि। किंतु इस बात की पड़ताल तो की ही जानी चाहिए कि उनका व्यक्तिगत जीवन कुछ भी रहा हो और उन्होंने स्वयं कुछ भी सीधे-सीधे न लिखा हो किंतु उनके सैद्धांतिक दर्शन से सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों को समझने में कितनी मदद मिल सकती है और किस वैचारिकी को समर्थन प्राप्त होता है। यह तो तय है कि यह लेख विट्गेन्स्टाइन के दर्शन के भारतीय विद्वानों को एक बार फिर से सोचने पर विवश ज़रूर करेगा। हिंदी में ऐसा दुर्लभ लेख प्रकाशित करने के लिए *प्रतिमान* के सम्पादक निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।

—अशराफ़ टोला,
हरदोई (उत्तर प्रदेश)